IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

# भारतीय ज्ञानपरंपरा की पर्यावरणीय चेतना: हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में

**डॉ. गंगाधर रामडगे**
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
दयानंद सागर कला, विज्ञान एवं वाणिज्य महाविद्यालय, बैंगलोर, कर्नाटक – 560078

*Abstract:* **सार:**
वर्तमान में पर्यावरणीय संकट केवल वैज्ञानिक या तकनीकी चुनौती नहीं रह गया है, बल्कि यह मानव सभ्यता के नैतिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक आधारों को भी प्रश्नांकित करता है। जलवायु परिवर्तन, जैव-विविधता का क्षरण, जल-संकट, वनों का विनाश तथा अनियंत्रित उपभोक्तावाद ने यह स्पष्ट कर दिया है कि केवल तकनीकी प्रगति पर्यावरणीय संतुलन का आश्वासन नहीं दे सकता। ऐसे समय में भारतीय ज्ञानपरंपरा प्रकृति और मानव के संबंधों को एक नई दृष्टि से देखने का अवसर प्रदान करती है। भारतीय चिंतन में प्रकृति बाह्य संसाधन नहीं, बल्कि जीवन का सहअस्तित्वकारी आधार है। यहाँ पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश को केवल भौतिक तत्त्व नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक चेतना के अंग के रूप में स्वीकार किया गया है।

हिंदी साहित्य ने इस पर्यावरणीय दृष्टि को विभिन्न युगों में विविध रूपों में अभिव्यक्त किया है। भक्तिकाल में प्रकृति ईश्वर की अभिव्यक्ति है, आधुनिक साहित्य में वह राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना की संवाहक है, जबकि समकालीन साहित्य में वह पर्यावरणीय संकट और विकास की वैकल्पिक अवधारणाओं से जुड़ती है। इस प्रकार हिंदी साहित्य भारतीय ज्ञानपरंपरा की पर्यावरणीय संवेदना का केवल प्रतिबिंब नहीं, बल्कि उसका सृजनात्मक विस्तार भी है।

**बीज शब्द:** भारतीय ज्ञानपरंपरा, पर्यावरणीय चेतना, हिंदी साहित्य, प्रकृति-दर्शन, लोकसंस्कृति, भारतीय ज्ञान प्रणाली।

वर्तमान समय में पर्यावरणीय संकट मानव सभ्यता की सबसे गंभीर चुनौतियों में से एक है। जलवायु परिवर्तन, प्रदूषण, जैव-विविधता का ह्रास, प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक उपयोग तथा उपभोक्तावादी विकास मॉडल ने मनुष्य और प्रकृति के बीच स्थापित संतुलन को गहराई से प्रभावित किया है। इन परिस्थितियों में पर्यावरण का प्रश्न केवल विज्ञान का विषय नहीं रह जाता, बल्कि वह संस्कृति, दर्शन, साहित्य और नैतिकता का भी विषय बन जाता है। भारतीय ज्ञानपरंपरा का अध्ययन इस संदर्भ में विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि भारतीय चिंतन ने प्रकृति को कभी निष्प्राण वस्तु नहीं माना। यहाँ प्रकृति जीवन की सहयात्री है। मनुष्य स्वयं प्रकृति का एक अंग है; उसका स्वामी नहीं। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में भूमि और नदियों को माता, वृक्षों को जीवनदाता तथा पर्वतों को स्थायित्व के प्रतीक के रूप में देखा गया है। यह दृष्टिकोण आधुनिक पर्यावरणीय नैतिकता से अनेक स्तरों पर साम्य रखता है और इसमें आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आयाम भी जुड़े हुए हैं। हिंदी साहित्य ने इस जीवन-दृष्टि को अत्यंत संवेदनशील ढंग से अभिव्यक्त किया है। हिंदी के कवियों और लेखकों ने प्रकृति का केवल सौंदर्य-वर्णन ही नहीं किया, बल्कि उसे मानवीय जीवन, सामाजिक संस्कृति और नैतिक चेतना के साथ जोड़ा है। इसलिए हिंदी साहित्य का पर्यावरण-विमर्श केवल हरित चेतना का साहित्यिक रूप नहीं, बल्कि भारतीय ज्ञानपरंपरा की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति भी है।

## पर्यावरणीय चेतना का दार्शनिक आधार

भारतीय ज्ञानपरंपरा का मूल आधार समग्रता है। यहाँ प्रकृति और मनुष्य के बीच किसी प्रकार का द्वैत स्थापित नहीं किया गया, बल्कि दोनों को एक ही अस्तित्व के परस्पर पूरक आयामों के रूप में देखा गया है। यही कारण है कि भारतीय चिंतन में पर्यावरणीय चेतना आधुनिक अर्थों में 'प्रकृति संरक्षण' तक सीमित नहीं रहती, बल्कि वह जीवन-दर्शन का अभिन्न अंग बन जाती है। पाश्चात्य औद्योगिक चिंतन ने लंबे समय तक प्रकृति को मनुष्य के उपभोग की वस्तु माना। इसके विपरीत भारतीय दृष्टि प्रकृति को साझी विरासत और सह-अस्तित्व के आधार के रूप में स्वीकार करती है। यह अंतर केवल दार्शनिक नहीं, बल्कि व्यवहारिक भी है। भारतीय संस्कृति में जल, वन, पर्वत, पशु-पक्षी और वृक्षों के प्रति सम्मान का भाव केवल धार्मिक प्रतीक नहीं है; उसके पीछे पर्यावरणीय संतुलन की गहरी सामाजिक समझ निहित है।

भारतीय ज्ञानपरंपरा का पर्यावरण-दर्शन यह प्रतिपादित करता है कि जब मनुष्य स्वयं को प्रकृति से अलग मानने लगता है, तभी पर्यावरणीय संकट उत्पन्न होता है। अतः पर्यावरण संरक्षण केवल तकनीकी उपायों से ही संभव नहीं है; बल्कि उसके लिए मनुष्य की चेतना में परिवर्तन की भी आवश्यकता है।

## वैदिक साहित्य में पर्यावरणीय दृष्टि

वैदिक साहित्य में प्रकृति के प्रति जो दृष्टि मिलती है, वह पर्यावरणीय संतुलन की अत्यंत विकसित अवधारणा प्रस्तुत करती है। ऋग्वैदिक ऋषियों ने सूर्य, अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल तथा वनस्पतियों को जीवन की मूल शक्तियों के रूप में स्वीकार किया था। यह स्वीकार केवल धार्मिक मात्र नहीं है, बल्कि पारिस्थितिक भी था। ऋग्वेद के पृथ्वी सूक्त तथा अन्य वैदिक मंत्रों में पृथ्वी को धारण करने वाली शक्ति माना गया है। मनुष्य से अपेक्षा की गई है कि वह प्रकृति का उपभोग संयमपूर्वक करे और उसके संतुलन को बनाए रखे। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वैदिक साहित्य में प्रकृति की पूजा का उद्देश्य अंधविश्वास नहीं था। यह प्रकृति के प्रति उत्तरदायित्व का सांस्कृतिक रूप था। जब समाज किसी नदी, पर्वत या वृक्ष को पवित्र मानता है, तब उसके संरक्षण की सामाजिक व्यवस्था भी स्वतः निर्मित होती है। भारतीय ज्ञानपरंपरा का यही सांस्कृतिक तंत्र पर्यावरणीय संरक्षण का आधार रहा है।

उपनिषदों में ब्रह्म और जगत की एकात्मता का सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है। यदि समस्त सृष्टि एक ही चेतना की अभिव्यक्ति है, तो किसी भी जीव अथवा प्राकृतिक तत्व का विनाश अंततः मनुष्य के ही अस्तित्व को प्रभावित करेगा। श्रीमदभगवद्गीता में प्रकृति और मानव के संबंध को कर्म तथा उत्तरदायित्व के आधार पर समझाया गया है। यहाँ यज्ञ का अर्थ केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं है, बल्कि पारस्परिक सहयोग और संतुलित जीवन-व्यवस्था भी है। यदि मनुष्य प्रकृति से केवल लेता ही रहे और उसे उसमें लौटाने का भाव समाप्त हो जाए, तो संतुलन नष्ट हो जाएगा। भारतीय ज्ञानपरंपरा की यह अवधारणा आज के पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आधुनिक विकास मॉडल में उपभोग की प्रवृत्ति कर्तव्य-बोध की अपेक्षा अधिक प्रभावी हो गई है।

भक्तिकालीन हिंदी साहित्य को प्रायः आध्यात्मिक आंदोलन के रूप में देखा जाता है, किंतु उसकी पर्यावरणीय संवेदना भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। संत कवियों ने प्रकृति को ईश्वर की सत्ता का विस्तार माना है। उनके लिए वृक्ष, जल, मिट्टी और जीव-जगत केवल प्रतीक नहीं, बल्कि जीवन की नैतिक संरचना के अंग हैं।

"डाली छेड़ूँ न पत्ता छेड़ूँ, न कोई जीव सताऊँ।
पात-पात में प्रभु बसते है, वाही को सीस नवाऊँ॥" – संत कबीरदास

कबीर की वाणी में प्रकृति या जिव-जगत का उल्लेख केवल काव्यात्मक सौंदर्य के लिए नहीं है; संत कबीर ने प्रकृति के माध्यम से मनुष्य को संयम, संतुलन और आत्मचिंतन का संदेश दिया है। उनकी दृष्टि में प्रकृति का विनाश मनुष्य के आध्यात्मिक पतन का संकेत भी है। तुलसीदास के काव्य में वन केवल कथा-स्थल नहीं, बल्कि सांस्कृतिक जीवन का केंद्र है। राम का वनगमन प्रकृति के साथ संवाद की प्रक्रिया है। अरण्य यहाँ तप, त्याग, लोकजीवन और सामाजिक समानता का क्षेत्र बन जाता है। यह दृष्टि आधुनिक विकास की उस अवधारणा से भिन्न है, तुलसीदास द्वारा चित्रित अरण्य को केवल आर्थिक संसाधन के रूप में माना जाता है। ठीक इसी प्रकार की भावना भक्तिकालीन कवि सूरदास के पद में भी देखने को मिलता है -

"बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब वै लता लगति तन सीतल, अब भइँ विषम ज्वाल की पुंजैं॥
बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं॥"

सूरदास के काव्य में ब्रजभूमि का प्राकृतिक वर्णन मानवीय आत्मीय संबंध का अनुभव कराती है। यहाँ के पेड़-पौधें, पशु-पक्षी और यमुना नदी का वर्णन कथा के बाहरी उदाहरण नहीं हैं, बल्कि जीवन की सक्रिय सहभागी के रूप में देखने को मिलते हैं।

भारतीय ज्ञानपरंपरा में सबसे महत्वपूर्ण लोगों की संस्कृति और परंपराएँ हैं जो नैतिक मूल्यों का पालन करता है। मनुष्य अपने जीवन-संस्कृति से संबंधित लोकगीत, लोककथाएँ तथा पारंपरिक उत्सवों से पर्यावरणीय संतुलन का भी समझ विकसित करता है। भारतीय गाँवों में जल-संरक्षण, वृक्षारोपण, वर्षा आधारित कृषि तथा सामुदायिक वन-व्यवस्था जैसी

अनेक परंपराएँ लोकज्ञान का हिस्सा रही हैं। हिंदी लोकसाहित्य ने इन अनुभवों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखा है। यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि आधुनिक पर्यावरण शिक्षा जिन सिद्धांतों को वैज्ञानिक भाषा में प्रस्तुत करती है, उनमें से अनेक भारतीय लोकजीवन में सदियों से व्यवहार का हिस्सा रहा है।

भारतीय ज्ञानपरंपरा की चर्चा करते समय यह मान लेना उचित नहीं होगा कि केवल अतीत की परंपराएँ वर्तमान पर्यावरणीय संकट का पूर्ण समाधान प्रस्तुत कर सकती हैं। समय के साथ-साथ पारंपरिक व्यवस्थाओं में बदलाव देखने को मिलता है, जो आधुनिक समाज की एवं एवं उनकी समस्याओं दूर कर, सरल जीवन हेतु वैज्ञानिक उपायों का विकास भी आवश्यक है लेकिन हमें यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि विज्ञान केवल तकनिकी समाधान प्रधान करता है; वह मनुष्य के नैतिक व्यवहार को स्वतः नियंत्रित नहीं कर सकता। भारतीय ज्ञानपरंपरा का महत्त्व इसी बिंदु पर स्थापित होता है। यह पर्यावरण को नैतिक उत्तरदायित्व का विषय बनाती है। अतः आधुनिक विज्ञान और भारतीय ज्ञानपरंपरा के मध्य प्रतिरोध करने के स्थान पर दोनों में आपसी समन्वय की आवश्यकता है। पर्यावरण के समस्या का निवारण केवल तकनीकी नवाचारों ही से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक चेतना, नैतिक अनुशासन और पारिस्थितिक उत्तरदायित्व के समन्वय से संभव है।

समकालीन हिंदी साहित्य में पर्यावरण-विमर्श केवल प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह मनुष्य की विकास-दृष्टि की आलोचना भी है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से हिंदी साहित्य में ऐसे लेखन की वृद्धि हुई है जो यह प्रश्न उठाता है कि क्या आर्थिक विकास की वर्तमान अवधारणा मानव और प्रकृति दोनों के लिए समान रूप से हितकारी है? इस संदर्भ में भारतीय ज्ञानपरंपरा का पुनर्पाठ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि वह विकास को केवल उत्पादन या उपभोग की वृद्धि के रूप में नहीं, बल्कि जीवन के संतुलित विस्तार के रूप में देखती है।

समकालीन कविता, कहानी, उपन्यास और निबंधों में नदी, जंगल, पर्वत, खेत और ग्रामीण जीवन केवल पृष्ठभूमि नहीं हैं; वे आधुनिक सभ्यता के संकट को समझने के सक्रिय प्रतीक बनकर उभरते हैं। साहित्यकार यह संकेत देते हैं कि पर्यावरण का संकट वस्तुतः मनुष्य की चेतना का संकट है। जब प्रकृति को केवल बाज़ार की वस्तु माना जाता है, तब उसका विनाश अनिवार्य हो जाता है। भारतीय ज्ञानपरंपरा इस स्थिति का एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। वह मनुष्य को प्रकृति का स्वामी नहीं, बल्कि संरक्षक मानती है। यह विचार समकालीन पर्यावरणीय विमर्श को नैतिक आधार प्रदान करता है। हिंदी साहित्य इस नैतिकता को अनुभव और संवेदना के स्तर पर अभिव्यक्त करता है।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रतिपादित सतत विकास (Sustainable Development) का उद्देश्य वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति इस प्रकार करना है कि भविष्य की पीढ़ियों के अधिकार सुरक्षित रहें। यह विचार आधुनिक वैश्विक नीति का महत्त्वपूर्ण आधार है। किंतु यदि भारतीय ज्ञानपरंपरा के आलोक में इस अवधारणा का परीक्षण किया जाए, तो स्पष्ट होता है कि यहाँ सह-अस्तित्व, संयम, संतुलित उपभोग और प्रकृति के प्रति उत्तरदायित्व जैसे सिद्धांत बहुत पहले से विद्यमान रहे हैं। फिर भी दोनों के बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर है। सतत विकास का आधुनिक मॉडल मुख्यतः आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय संतुलन पर आधारित है, जबकि भारतीय ज्ञानपरंपरा इसमें एक चौथा आयाम भी जोड़ती है - नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्तरदायित्व। भारतीय दृष्टि में पर्यावरण संरक्षण केवल नीति का विषय नहीं, बल्कि जीवन-मूल्य है।

यही कारण है कि भारतीय ज्ञानपरंपरा का पर्यावरण-दर्शन व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन पर बल देता है। वह संयम, संतोष, पुनर्चक्रण, साझा संसाधनों के संरक्षण तथा स्थानीय ज्ञान की प्रतिष्ठा को पर्यावरणीय संतुलन का आधार मानता है। आधुनिक पर्यावरण-नीतियाँ यदि इस सांस्कृतिक पक्ष को भी स्वीकार करें, तो उनका प्रभाव अधिक स्थायी हो सकता है। भारतीय ज्ञानपरंपरा और हिंदी साहित्य के संबंधों का अध्ययन करते समय केवल गौरव-बोध पर्याप्त नहीं है। आवश्यक यह भी है कि परंपरा का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाए। प्रत्येक परंपरा समय के साथ परिवर्तित होती है और उसकी नई व्याख्याएँ सामने आती हैं।

हिंदी साहित्य का महत्त्व इसी बात में है कि उसने भारतीय ज्ञानपरंपरा को जड़ रूप में स्वीकार नहीं किया। संत साहित्य ने सामाजिक विषमताओं पर प्रश्न उठाए, आधुनिक साहित्य ने राष्ट्रीय पुनर्जागरण का मार्ग प्रशस्त किया और समकालीन साहित्य ने पर्यावरण, स्त्री-अस्मिता तथा सामाजिक न्याय जैसे प्रश्नों के माध्यम से परंपरा को नए संदर्भों में पुनर्परिभाषित किया। इस प्रकार हिंदी साहित्य भारतीय ज्ञानपरंपरा का अनुकरण मात्र नहीं करता, बल्कि उसका सृजनात्मक पुनर्निर्माण भी करता है। यही उसकी जीवंतता है और यही उसकी अकादमिक प्रासंगिकता भी।

## निष्कर्ष:

भारतीय ज्ञानपरंपरा में पर्यावरणीय चेतना किसी एक ग्रंथ, धर्म या दार्शनिक मत तक सीमित न होकर वैदिक साहित्य, उपनिषदों, गीता, भक्तिकालीन हिंदी साहित्य तथा लोकजीवन तक विकसित होने वाली सांस्कृतिक दृष्टि है। यह केवल अतीत की सांस्कृतिक स्मृति नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए भी एक वैचारिक दिशा है, जो मनुष्य और प्रकृति के संबंध को सह-अस्तित्व, उत्तरदायित्व और नैतिक सहभागिता के आधार पर समझती है। हिंदी साहित्य ने इस चेतना को केवल सौंदर्यबोध के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के रूप में अभिव्यक्त किया है। भक्तिकाल से समकालीन पर्यावरण-विमर्श तक हिंदी साहित्य ने सिद्ध किया है कि प्रकृति का संरक्षण केवल कानूनों या

नीतियों से नहीं, बल्कि मानवीय संवेदना और सांस्कृतिक चेतना के जागरण से संभव है। प्रस्तुत शोध स्पष्ट करता है कि भारतीय ज्ञानपरंपरा और हिंदी साहित्य का संयुक्त अध्ययन आधुनिक पर्यावरणीय विमर्श को सांस्कृतिक आधार, नैतिक विवेक तथा भविष्य की पर्यावरणीय नीतियों और शिक्षा के लिए उपयोगी दिशा प्रदान करता है।

**संदर्भ ग्रन्थ:**


1. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय संस्कृति और कला (1952), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन (1984), चौखम्बा ओरिएंटालिया, वाराणसी।
3. ऋग्वेद, सम्पा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।
4. अथर्ववेद, गीता प्रेस, गोरखपुर।
5. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर।
6. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, गीता प्रेस, गोरखपुर।
7. कबीरदास, कबीर ग्रंथावली, सम्पा. डॉ. श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
8. सूरदास, सूरसागर, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
9. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
10. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
11. रामविलास शर्मा, भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
12. नामवर सिंह, इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
13. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन (भाग 1 एवं 2), राजपाल एंड संस, नई दिल्ली।
14. मोहनदास करमचन्द गांधी, हिन्द स्वराज, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद।
15. University Grants Commission, Indian Knowledge Systems (IKS): Guidelines for Higher Education Institutions. New Delhi.
16. AICTE, Indian Knowledge Systems: An Introduction. All India Council for Technical Education, New Delhi.